P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-10* June- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

मानव स्वभाव की उत्पत्ति : एक दार्शनिक विवेचन

पिताम्बर दास जाटव
असिस्टेंट प्रोफेसर,
दर्शनशास्त्र विभाग,
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

सारांश

मानव इस ब्रह्माण्ड़ में सबसे सफल एवं बुद्धिसम्पन्न जीव दिखाई देता है, क्योंकि मानव का स्वभाव इस सृष्टि में सबसे जटिल प्रतीत होता है। जिसको समझने के लिये दर्शन, विज्ञान एवं धर्म के अन्तर्गत अनेक प्रकार के अध्ययन एवं अनुसंधान किये गये है। अब तक के अध्ययन एवं अनुसंधान से यह तथ्य निकलकर सामने आता है कि मानव के स्वभाव के निर्माण में ब्रह्माण्ड़ के चारो जगत् अर्थात् जड़ जगत, वनस्पति जगत्, पशु जगत् एवं मानव जगत् के स्वभाव का समावेश है। सृष्टि के विकास क्रम में मानव जगत् न केवल सर्वोच्च स्तर पर है अपितु अन्य जगतों पर वह अपना काफी सीमा तक नियन्त्रण रखता है और अपने स्वार्थ एवं लाभ के लिए अन्य जगतों का दोहन भी करता है। यह शक्ति केवल मानव में ही विकसित हुई है, जिसका नाम है विवेकशीलता। इसी विवेकशीलता से मानव ने अनेक प्रकार के स्वभाव का निर्माण किया है, जैसे साधुता एवं दुष्टता, धर्म–अधर्म, पाप–पुण्य, नैतिक–अनैतिक, न्याय–अन्याय, अच्छा–बुरा आदि। अपने मानव जगत् को और अधिक विकसित करते के लिए ही उसने सम्बन्धों की व्यवस्था, समूह में रहने की प्रवृत्ति, सहयोग एवं परस्परनिर्भता, रक्षा एवं सहयोग की प्रवृत्ति, संघर्ष की प्रवृत्ति आदि का निर्माण किया है। भारतीय दर्शन की अस्तिक एवं नास्तिक दोनों परम्पराएं मानव स्वभाव की विवेचना अपनी–अपनी दृष्टि से करते है। अतः भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के दर्शनों का मानव एवं उसका स्वभाव केन्द्रीय विचार है।

मुख्य शब्द : मानव, स्वभाव, सृष्टि, ब्रह्माण्ड, दुष्ट, साधु, विकास, प्रवृत्तियां, दार्शनिक, संघर्ष, स्वार्थ, परम्परा, चिन्तन, विचारक।

प्रस्तावना

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विश्व के सभी दार्शनिको, वैज्ञानिकों एवं मानवशास्त्रियों ने अपने–अपने विचार प्रस्तुत किये है, जहां तक दार्शनिको की बात की जाये तो दार्शनिको के दो मत मिलते है, एक आस्तिक (Orthodox) दूसरा नास्तिक (Heterodox)। आस्तिक दार्शनिको के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति दैवीय शक्ति के द्वारा बताई जाती है और नास्तिक दार्शनिक परम्परा में इसकी उत्पत्ति भौतिक परमाणुओं के स्वभाव के द्वारा बताई जाती है। वैज्ञानिक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति को एक आकास्मिक घटना मानते है, जबकि मानवशास्त्री इसको एक विशेष प्रकार की शक्ति अथवा उर्जा का क्रमिक विकास मानते है, जिसे दर्शनशास्त्र की भाषा में चेतना कहा जाता है। मानव स्वभाव की उत्पत्ति उपरोक्त विकास का ही एक सबसे महत्त्वपूर्ण पड़ाव है। अनुसंधान एवं अध्ययन की दृष्टि से ब्रह्माण्ड में हमें चार जगत् प्राप्त होते है अर्थात् जड़ जगत्, वनस्पिति जगत्, पशु जगत एवं मानव जगत्। पाँचवे जगत् के बारे में लाईब्नीत्ज एवं श्री अरविन्द ईश्वरीय जगत् (Queen Monad) अथवा दिव्य जगत् (Divine World) को इंगित करते है। ब्रह्माण्ड़ के चार अथवा पाँच जगत् के स्वभाव ही मानव स्वभाव की उत्पत्ति के प्रमुख कारक है, क्योंकि मानव के स्वभाव में सभी प्रकार के जगतों के स्वभाव के कुछ–न–कुछ अंश स्पष्ट रूप से दिखाई देते है। जड़ जगत् का स्वभाव है–शान्ति एवं स्थिरता जो मानव के स्वभाव का आवश्यक लक्षण है। वनस्पति जगत् का स्वभाव है–वृद्धि, विकास, समूह, संवेदना जो मानव के स्वभाव में भी पाये जाते है। पशु जगत् का स्वभाव है–भूख, संघर्ष, प्रजनन, पालन–पोषण, हिंसा, रक्षा, परिवार आदि जो मानव के स्वभाव में भी पाये जाते है। परन्तु जब हम मानव जगत् पर विचार करते है तो हमें विवेकशीलता का एक ऐसा लक्षण मिलता है जो मानव को अन्य से श्रेष्ठ बनाता है। इसी विवेकशीलता के आधार पर वह अपने सामाजिक स्वभाव का निर्माण करता है जिसमें सभी जगतों के स्वभाव को मानव शामिल करते हुए, परस्पर सहयोग, अहिंसा, परस्पर निर्भरता आदि का विकास करते हुए अपनी आवश्यकता की पूर्ति हेतु अनेक

प्रकार के संगठन एवं संस्थाओ का निर्माण करके अपने मानव समुदाय के जीवन को सरल एवं सुगम बनाता है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य यह बताना है कि मानव एवं उसके स्वभाव की उत्पत्ति ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के क्रम में ही हुई है, मानव का इस सृष्टि में कोई अवतरण नहीं हुआ है। सर्वप्रथाम इस ब्रह्माण्ड में जड़ जगत् की उत्पत्ति हुई, विकास क्रम में जड़ जगत् में से वनस्पति जगत् विकसित हुआ और वनस्पति जगत् में से जीव जगत् विकसित हुआ और जीव जगत् में से मानव जगत् की उत्पत्ति हुई। यह भी बताना इस शोध पत्र का उद्देश्य है कि मानव के स्वभाव की एक पक्षीय व्याख्या नहीं की जा सकती।

साहित्यावलोकन

प्रस्तुत शोध पत्र से सम्बंधित मुख्य सामग्री डॉ0 रामजी सिंह की पुस्तक ''समाजदर्शन के मूल तत्त्व'' के अध्याय प्रथम 'मानव–प्रकृति' पृ0 सं0 1–21 पर विवेचित है। यह पुस्तक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा वर्ष 1983 में प्रकाशित हुयी है। कुछ वर्णन राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक ''मानव–समाज'' के पृष्ठ संख्या 1–12 पर भी विवेचित है। यह पुस्तक लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से वर्ष 2012 में प्रकाशित है। हेंड्रिक विलोम फ़ान लून की पुस्तक ''मानव जाति का इतिहास'' के अध्याय 03 (प्रागेतिहासिक मानव) पृ0सं0 16–19 पर भी मानव एवं उसके स्वभाव के बारे में ऐतिहासिक सर्वेक्षण बताया गया है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद अरूण कुमार जी ने किया है और प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली से यह पुस्तक वर्ष 2014 में प्रकाशित है। शोध पत्र के कुछ महत्वपूर्ण तथ्य जे0 एस0 मेकेंजी की पुस्तक ''समाज दर्शन की रूपरेखा के अध्याय प्रथम–मानव प्रकृति, पृ0सं0 25–38 पर भी उपलब्ध है। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डॉ0 अजित कुमार सिन्हा जी ने किया है और यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से वर्ष 2009 में प्रकाशित है। कुछ विवेचना डॉ0 हृदय नारायण मिश्र की पुस्तक ''समाज दर्शन सैद्धांतिक एवं समस्यात्मक विवेचन'' के परिशिष्ट 1. समाज दर्शन के मनोवैज्ञानिक आधार पृ0सं0 765–767 पर भी लिखित है। यह पुस्तक वर्ष 2009 में शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित हुयी है। प्रस्तुत शोध पत्र से सम्बंधित एक महत्वपूर्ण अध्याय डा0 आर0 जाटव द्वारा लिखित पुस्तक ''भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ के अध्याय प्रथम, पृ0 सं0 9–76 पर भी लिखित है। यह पुस्तक सन् 2002 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर द्वारा प्रकाशित है। डॉ0 शिवभानु सिंह की पुस्तक ''समाज दर्शन का सर्वेक्षण'' के अध्याय तृतीय में भी कुछ सामग्री शोध पत्र से सम्बंधित लिखित है। यह पुस्तक सन् 2001 में शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद से प्रकाशित है। ऐनसाइक्लापीडिया ऑफ सोसल फिलोसोफि एवं एन्थ्रोपोलाजी में भी प्रथम अध्याय में शोध पत्र से सम्बंधित महत्वपूर्ण जानकारी दी गयी है। प्रस्तुत शोध पत्र के समान संभवतः अभी तक हिन्दी एवं अंग्रेजी में कोई शोध पत्र प्रकाशित नहीं है। डॉ0 पिताम्बर दास द्वारा लिखित पुस्तक ''दर्शनशास्त्र की शोध प्रविधियाँ'' के पृ0 सं0 88–103 पर भी इस शोध पत्र से सम्बंधित कुछ सामग्री लिखित है। यह पुस्तक शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद द्वारा वर्ष. 2017 में प्रकाशित है। उपरोक्त पुस्तकों के अलावा सोसल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के ग्यारहवें अंक, वो03, जुलाई–2016 के अंक में पृ0 सं0 75–83 पर प्रकाशित डॉ0 पिताम्बर दास के द्वारा लिखित शोध पत्र ''भारतीय दर्शन की शोध प्रविधियाँ'' में भी कुछ सामग्री विद्यमान है तथा उक्त फाऊण्डेशन द्वारा प्रकाशित दूसरी पत्रिका '' रिमार्किंग एन ऐनेलाइजेशन'' के नवें अंक, वो0 1, दिसम्बर, 2016 के पृ0 सं0 133–140 पर प्रकाशित डॉ0 पिताम्बर दास जी के शोध पत्र 'समाज दर्शन की पद्धतियां' में भी महत्वपूर्ण लिखित सामग्री उपलब्ध है।

समाज में मानव का अस्तित्व

समाज व्यक्ति के अस्तित्व को सुरक्षा के साथ अनेक सुविधा प्रदान करते हुए, मानव से वैयक्तिक सीमाओं का अतिक्रमण कर न्याय, नैतिकता जैसी अतिवैयक्तिक एवं तटस्थ दृष्टि में प्रतिष्ठित होने की अपेक्षा भी करता है। समाज दर्शन में इस दृष्टिकोण को विवेक की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि विवेक सामाजिकता का सबसे बड़ा साधन है अर्थात् मानव की प्रकृति ही सामाजिक है और समाज को विद्यमान बनाये रखने की उसमें योग्यता है। सामान्यतः लोग मानव–जीवन में व्याप्त प्रतिस्पर्धा एवं संघर्षों को देखकर उसकी अन्तर्निहित सामाजिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाने का प्रयास करते हैं, प्ररन्तु वे संभवतः यह नहीं जानते कि प्रतिस्पर्धा के साथ प्रेम और संघर्ष के साथ सहयोग दोनों ही मानव को सामाजिक बनाते हैं। यूनानी दार्शनिक हेरेक्लिट्स के अनुसार, ''यदि संघर्ष समाप्त हो जाय तो जीवन ही समाप्त हो जाय, संघर्ष ही विकास को दिशा प्रदान करता है।'' संघर्ष की इस प्रक्रिया में हम अपने समान विचार वालों के साथ सहयोग करत है। संघर्ष एवं सहयोग दोनों का मानव–जीवन में अपना–अपना विशिष्ट स्थान है। पशु जगत् तक तो यह सामाजिकता मूल प्रवृत्तियों में अन्तर्निहित रहती है, परन्तु मानव जगत् के स्तर तक पहुंचते ही उसका विवेक उसकी सामाजिकता का आधार तत्त्व बन जाता है। शिक्षण, प्रशिक्षण, सभ्यता, संस्कृति आदि के विकास के जटिल कार्यों में परस्पर सहयोग की अधिक आवश्यकता होती है। भाषा परस्पर व्यक्तियों को ही नहीं अपितु उनको परम्परा से भी बांधती है। भाषा के अस्तित्व से सिद्ध होता है कि समाज एक मौलिक आवश्यकता है। बटलर के अनुसार,''मानव और मानव के बीच एक स्वाभाविक आकर्षण है।'' सामाजिक संश्लिष्टता सामाजिक व्यवहार है, जिसमें हमें आकर्षण एवं विकर्षण, प्रतिस्पर्धा एवं प्रेम, संघर्ष एवं सहयोग के विलोम एकसाथ दीखते है। मानव–स्वभाव में इस परस्पर विरोधी समागम को कांट ने ''मनुष्य की असामाजिकत सामाजिकता'' और मनोविश्लेषण–शास्त्र की भाषा में फ्रायड ने ''देव्धवृत्ति'' (Ambivalent) कहा है। मनुष्य एक ऐसा विशिष्ट जीव है कि वह अपने समुदाय के बिना भी नहीं रह सकता।

मानव स्वभाव

मानव का सबसे महत्त्वपूर्ण स्वभाव है–समूह में रहना। समूह में रहने की यह प्रवृत्ति उसमें सहज है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने समूह की इस प्रवृत्ति को एक मूल प्रवृत्ति

नहीं मानकर अनुकृति संकुचन, सहानुभूति आदि अनेक प्रवृत्तियों का समूह माना है। टांसले ने समूह में रहने की प्रवृत्ति को आत्मरक्षावृत्ति के बाद स्थान दिया है, क्योंकि उसके अनुसार आत्मरक्षा के लिए ही मानव समूह में रहना चाहता है। वेस्टरमार्क भी मनुष्य को मूलतः समूह में रहने वाला नहीं मानता। उनके अनुसार जब खाद्य सामग्री का बाहुल्य होने लगा और जब झुण्ड में रहना मनुष्य के लिए उपयोगी महशूश होने लगा तब ही मानव में झुण्ड की प्रवृत्ति का विकास हुआ। वास्तव में मानव अपनी किसी क्रिया के उत्तर में दूसरों का प्रत्युत्तर चाहता है। अकेलापन मानव के लिए सबसे बड़ी सजा है। संभवतः इसी विध्वंशक एकाकीपन से मुक्ति के लिए वह समूह एवं सामुदायिक जीवन के प्रति इतना अभिमुख होता है। मानव स्वभाव में वात्सल्य–भावना सामाजिकता का एक महत्वपूर्ण मनोभाव जनक–जननी को सन्तान के प्रति और सन्तान का जननी के प्रति प्रेम के रूप में दीखता है, जो प्रायः कम विकसित प्राणियों में भी मिलता है। मानव जगत् में यह मनोभाव जैव स्तर से ऊपर उठकर सांस्कृतिक और सामाजिक स्तर प्राप्त कर लेता है। मानव में माँ–बाप बच्चों को केवल प्यार ही नहीं करते अपितु वह सन्तान के रूप में सदैव प्रेम का अधिकारी हो जाता है और अभिवावक आदर के अधिकारी हो जाते है। यही कारण है कि यह सम्बन्ध परिवार को जन्म देता है, जो भाई–बहन इत्यादि के नये सम्बन्धों को जन्म देता है और इस प्रकार के सम्बन्ध केवल मानव–जगत् में ही पाये जातें है।

मानव जीवन में दाम्पत्य–जीवन धर्म एवं सामाजिकता की सबसे महत्त्वपूर्ण आधार–शिला है। दाम्पत्य के कारण ही मानव को वात्सल्य–सुख मिलता है और काम–वासना को नैतिकता और मनुष्य को दीर्घजीवन तक सुख–दुःख का एक साथी भी मिल जाता है। मैथुन मानवों और पशुओं की एक उभयनिष्ठ मूल प्रवृत्ति है। यह इतना ही स्वभाविक है, जितना भूख और प्यास। दाम्पत्य जीवन इस मूल प्रवृत्ति को संयमित और मर्यादित बनाता है तथा उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है। मानव–सभ्यता के प्रारम्भ में जब विवाह एवं स्थायी दाम्पत्य के विधान निर्मित नहीं हुए थे, तब निश्चय ही पशुओं की तरह अनियन्त्रित–संभोग की अवस्था रही होगी, परन्तु उस स्थिति में परिवार के लिए सम्भावना नहीं थी, जोकि समाज की मूल इकाई है। विवाह रूपी संस्था के उत्पन्न होने के बाद ही यह सम्बन्ध मर्यादित हो पाया और परिणामस्वरूप परिवार रूपी संस्था का जन्म हुआ।

मानव की स्वार्थ भावना

यदि मानव की स्वार्थ–भावना की बात की जाये तो प्रायः लोग स्वार्थ–भावना एवं सामाजिकता में विरोध देखते है। कुछ सीमा तक यह सही भी हो सकता है, परन्तु यदि ध्यान से सोचें तो सामाजिक जीवन के कारण ही हमारा स्थूल से स्थूल स्वार्थ सिद्ध होता है। समाज से ही मानव भाषा, ज्ञान–सम्पत्ति एवं समृद्धि प्राप्त करता है। समाज से ही मानव को परिवार मिलता है और समाज ही उसे पिता–माता, पुत्र–पुत्री, सखा–बन्धु व प्रेयसी एवं पत्नी प्रदान करता है। समाज ही मानव को यश और गौरव प्रदान करता है। मानव एक ऐसा प्राणी है जिसे अपना आत्म–संवर्द्धन तथा आत्माभिव्यक्ति की भावनाओं के पुष्पित एवं पल्लवित होने के लिए समाज रूपी वातावरण की आवश्यकता होती है। यदि समाज नही होगा तो मानव अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पायेंगा। अतः स्वार्थ और परार्थ में आधारभूत विरोध प्रतीत नहीं होता और यदि ध्यान से देख जाये तो प्रत्येक स्वार्थ में परार्थ और प्रत्येक परार्थ में स्वार्थ का अंश विद्यमान रहता है। यही कारण है कि हम इसका उदाहरण समाज के विभिन्न सम्बन्धों में देखते है। जैसे यदि परिवार का ही दृष्टान्त ले तो इसमें हमें संग्रह एवं त्याग, अधिकार एवं कर्त्तव्य दोनों का अपूर्व संमिश्रण मिलता है। आर्थिक क्षेत्र में भी हम प्रतियोगिता एवं सहयोग, राजनीतिक क्षेत्र में अधिकार एवं कर्त्तव्य का द्वैत पाते है।

मानव स्वभाव पर विचार करते हुए यूनानी दार्शनिक अरस्तू के अनुसार मानव एक सामाजिक जीव है। इसी बात को जर्मन दार्शनिक ने और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहा है कि मानव केवल मानवों के बीच ही मानव बन सकता है। वास्तव में मानव–व्यक्तित्व का निर्माण आनुवंशिकता और वातावरण दोनों पर निर्भर करता है। परन्तु मानसिक विकास पर वातावरण का प्रभाव अत्यधिक होता है। यही कारण है कि मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियों और सम्भावनाओं के विकास पर समाज एवं सामाजिक वातावरण का बहुत प्रभाव होता है। जिस प्रकार का हमारा परिवार होगा, जैसी हमारी पाठशाला होगी और जैसी हमारी परम्पराएं होंगी, हमारा व्यतिव उसी प्रकार का बनेगा। हमारी जन्मजात प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति या उनका दमन सामाजिक वातावरण पर ही निर्भर करते हैं। ज्ञानार्जन के क्षेत्र में तो सामाजिक वातावरण का प्रभाव स्पष्ट ही है, क्योंकि हम जन्मजात् रूप से पंडित और वैज्ञानिक बन कर पैदा नहीं होते है। हमें जो ज्ञान प्राप्त है वह परम्पराओं का अर्जित ज्ञान होता है। सामाजिक अन्धविश्वास और रूढ़ियों के कारण केवल सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि भौतिकी, रसायन विज्ञान आदि शुद्ध विज्ञान के क्षेत्रों में भी ज्ञान प्राप्ति के मार्ग में बाधाएं आयी है।

मानव समाज

जब हम मानव–समाज के निर्माण पर विचार करते है तो हमारे सामने एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक प्रश्न आता है कि क्या व्यक्तिगत मन के समान कोई सामूहिक मन भी होता है ? यदि नही तो अरस्तू ने मानव को एक सामाजिक जीव क्यों कहा है, क्योंकि समूह में हम जो कुछ कर पाते है, वह अकेले में नहीं कर पाते। इस प्रकार समूह मन और समूह संकल्प का अस्तित्व सिद्ध होता है। वास्तव में हम जिसे समूह मन अथवा समूह–संकल्प कहते है, वह कोई एक नहीं अपितु विविध वृत्तियों एवं प्रवृत्तियों का योग मात्र है। फ्रेन्च दार्शनिक रूसों ने सामाजिक एकता के अस्तित्व की सत्यता बताते हुए ''सामान्य संकल्प'' की कल्पना की थी और पाश्चात्य बुद्धिवादी दार्शनिक स्पीनोजा ने इसी को सामान्य–संकल्प एवं सामान्य श्रेयस् कहा है। समाज दर्शन की रूपरेखा पुस्तक में जे0 एस0 मेंकेंजी ने सामान्य–संकल्प में कई चीजों का समावेश बताया जैसे, एक निर्णय में अनेक व्यक्तियों की इच्छाएं समाविष्ट हों और सम्पूर्ण समुदाय के कल्याण की भावना रहे। इसी प्राकर ग्रीन महोदय ने भी

कहा है कि सामान्य संकल्प में सामान्य हित का विचार रहता है। जैसे हम मान ले कि एक छात्रावास के भोजनालय में प्रत्येक व्यक्ति को माह में 30 रू0 प्रति भोजन–खर्च के लिए देने पड़ते है, परन्तु कोई एक अत्यन्त निर्धन छात्र है, जो भोजन शुल्क देने में असमर्थ है। इस स्थिति में यदि सब मिलकर इस व्यक्ति का भी भोजन–खर्च उठा लेते है, तो यह एक सामूहिक संकल्प हुआ, जिसमें सब मिलकर किसी के कल्याण का काम करते है। समानहित एवं समान आदर्शों की भावना से जब हम कोई काम करते हैं, तब एक सामाजिकता का निर्माण हो ही जाता है।

मानव स्वभाव की विशेषताए

अब तक के अध्ययन एवं अनुसंधान से यह तथ्य सामने आता है कि मानव इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी हैं। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने अपनी अनुरूपता में ही मानव की सृष्टि की है। भारतीय सन्त गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में ''बड़े भाग्य मानुष तन पावा।'' और जय शंकर प्रसाद जी भी कहते है कि ''जो पुर्ण मनुष्यत्व है, वही काल्पनिक देवत्व है।'' यहां पर यदि समाजशास्त्र के दृष्टिकोण की बात की जाए तो इस ब्रह्माण्ड में मानव की इस सर्वोच्चता का कारण यही है कि उसमें कुछ शक्तियों का अन्य प्राणियों की तुलना में अत्यधिक विकास हुआ है, अपितु मानव के पास तो कुछ ऐसी शक्तियां भी है, जो निम्न स्तर के जीव जगत् में बिल्कुल भी नहीं है, जैसे :–

विवेकशीलता

मानव एवं पशुओं के बीच विवेक को ही विच्छेदक गुण माना गया है। यद्यपि हाल ही में जानवरों पर किये गये कुछ प्रयोगों से सिद्ध हुआ कि शिंपांजी जैसे पशुओं में भी अत्यन्त निम्नस्तर के चिन्तन के कुछ लक्षण पाये गये है, परन्तु मानव की चिन्तन–शक्ति इतनी अधिक है कि उसके सामने वह कुछ भी नहीं है। मानव संश्लिष्ट एवं जटिल सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि समस्याओं के समाधान में लगा रहता है। यह मानव की बुद्धि का ही चमत्कार है कि उसने पशुओं की अस्पष्ट ध्वनियों को पूर्ण विकसित भाषा में, पशुओं के सरल हस्त–व्यापार को जटिल यन्त्रों में, और भावनाओं को कला में रूपान्तरित कर दिया है। परन्तु इस विवेचन के आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि मानव पारंगत होकर ही पैदा होता है। बल्कि वह अपनी क्रिया एवं प्रतिभा का क्रमशः विकास करता है। यही कारण है कि वह प्रस्तर एवं नवीन प्रस्तर–युग से अणु–युग आ गया है।

भाषा

इस सृष्टि में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो भाषा–व्यवहार के द्वारा दूसरे मानव के साथ सहज ही सम्पकर् कर सकता है। वैसे तो भाषा किसी न किसी रूप में पशुओं एवं पक्षियों में भी है, परन्तु मानवों की भाषा प्रतिकात्मक एवं अत्यन्त विकसित कोटि की है। पशुओं में संभवतः भाषा संकेतात्मक और आवेग–सूचक मात्र होती है, प्रतिकात्मक एवं विमर्शात्मक नहीं, जो कि मानव भाषा का वैशिष्ट्य है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पशु भाषा के माध्यम से अपना ज्ञान दूसरे के पास नहीं पहुंचा सकते है और यही कारण है कि उनके पास कोई ज्ञान–विज्ञान, आविष्करण एवं लेखन आदि नहीं होता है।

औजार

इस सृष्टि पर मानव अपनी विचार–शक्ति एवं भाषा के बल पर सर्वोच्च शासक बना हुआ है, परन्तु मानव की इस सर्वोच्चता की स्थिति का सबसे बड़ा रहस्य है, औजारों अथवा उपकरणों का प्रयोग करना। यदि मानव विशेष शरीर–रचना से विभूषित न होता और उपकरणों का प्रयोग करने वाला प्राणी न होता तो संभवतः मानव का इतना विकास नहीं हो पाता जितना आज हो पाया है। उपकरणों का प्रयोग करने की क्षमता उसकी विशिष्ट शारीरिक रचना, विकसित मांसपेशियों, हड्डियों के ढ़ांचे आदि कई बातों पर निर्भर है। यूनानी दार्शनिक एनेक्जेगोरस के अनुसार तो मनुष्य की यह सर्वोच्चता पूर्णतः उसके हाथों की विचित्र बनावट के कारण ही उसे प्राप्त हुई है, जिसके द्वारा किसी चीज को वह अपनी अंगुलियों से मजबूती के साथ पकड़ सकता है। वास्तव में मानव के ये हाथ पैर के समान थे, जैसे अन्य पशुओं में है, परन्तु विकास क्रम में मानव खड़ा होना सीख गया और फिर शेष दो पैरों को उसने हाथ बनाकर अपने लिए औजार बना लिये। यंत्रों के उपयोग की कला केवल हस्त–संचालन पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि उसके सुविकसित मस्तिष्क एवं अन्य इन्द्रियों पर भी निर्भर है। मानव के पास एक जटिल स्वर–यन्त्र है, जिसके कारण वह भाषाओं का इतना विस्तार कर सका और मानव के पास एक सूक्ष्म श्रवणशक्ति है, जिसके के कारण वह उन्हें समझ सकता है, सूक्ष्म स्नायु–संस्थान है, जिसके द्वारा वह उच्चतम रूपों की उत्पत्ति और मूल्यांकन करने में योग्य हुआ है। लेकिन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है, मानव के पास मस्तिष्क एवं चिंतन–शक्ति का होना, जिनके कारण वह शरीर एवं परिस्थिति का इतना सदु उपयोग कर सकता है। परन्तु मानव की बुद्धि का यह इतना विकास भी उसकी जटिल शारीरिक बनावट के कारण से ही होता है। उदाहरण के लिए, यदि मानव उच्चतर श्रेणी के बन्दर की अपेक्षा एक घोड़े के रूप में रहता तो उसका बौद्धिक एवं सांस्कृतिक जीवन वर्तमान अवस्था से बहुत भिन्न होता और यदि चींटियों एवं मक्खियों में विवेक विकसित होता तो न जाने और क्या होता ? अतः यह बात उपरोक्त विवेचन से सामने आती है कि मानव–शरीर के गठन को जानं बिना पूर्णरूप से जाने बिना मानव का पूर्ण अध्ययन नहीं हो सकता।

इस प्रकार मानव–स्वभाव के सम्बन्ध में मानव–व्यवहारों के आधार पर सबसे पहला प्रश्न सामने आता है कि ''मानव क्या करता है ?'' और जब हम उसकी योग्यता, क्षमता की बात करते है तो प्रश्न उठता है कि ''मानव क्या कर सकता है ?'' परन्तु जब हम मानव–प्रकृति, स्वभाव, गुण आदि के विषय में बात करते हैं तो हम प्रश्न करते हैं कि '' मानव किस प्रकार का जीव है ?'' हम मानव होने के नाते जा कुछ भी करते है, वही हमारा स्वभाव है। दुर्भाग्य से ''मानव–स्वभाव'' के विषय में हम प्रायः सभी महान् दार्शनिक परम्पराओं में तटस्थ वैज्ञानिक वृत्ति से किये गये विश्लेषण का नितांत अभाव पाते है। मानव स्वभाव के सम्बन्ध में दार्शनिको की दृष्टि मुख्य रूप से आदर्शमूलक एवं आध्यात्मिक रही है। विभिन्न दर्शनों की विभिन्न परम्पराएं है। जैसे यूनानी

दर्शन का प्रयोजन मनुष्य को 'बुद्धिमान' बनाना था, जबकि चीनी परम्परा मनुष्य को 'नीतिमान्' बनाने पर जोर देती है। जबकि भारतीय परम्परा में दर्शन का एक विशेष प्रयोजन रहा है, वह है जीव और ब्रह्म का साक्षात्कार, जिसे हम मोक्ष भी कह सकते है। यहूदी विचारक मानव को यह बताना चाहते है कि ईश्वर भी मानव–कल्याण में अभिरूचि रखता है। यही कारण है कि यूनानी दर्शन में आदर्श–मानव को 'विद्यानुरागी' और चीनी परम्परा में 'आचारवान् साधु', परन्तु भारतीय परम्परा में मानव को आत्मज्ञानी माना गया है। दूसरी ओर यहूदी विचारकों ने आदर्श मानव को भगवान की प्रतिमा स्वीकार कर उसके जीवन में आदर्श सद्गुणों का समावेश किया है। इस सृष्टि में मानव का स्वभाव एक ऐसा रहस्य है जिसमें अच्छ एवं बुरे दोनां प्रकार के स्वभाव का समावेश पाया जाता है, भले ही मानव समाज में साधु अथवा सन्त हो।

चीनी परम्परा में प्राचीन कन्फ्यूशियस विचारकों ने मानव को देव–अंश मानकर उसमें देवत्व का आरोप करते हुए, उसके स्वभाव को नैतिक उद्घोषित किया, किन्तु महात्मा कन्फ्यूशिस की यथार्थवादिता ने मानव–प्रकृति में सामाजिक तत्त्व का आरोप करते हुए व्यवहार में उसे व्यक्तिवादी माना है। भारतीय परम्परा में उपनिषदों के तत्त्वदर्शीयों ने पंचकोषों की कल्पना के अनुसार मानव के भौतिक एवं मनोदैहिक पक्ष के साथ–साथ आध्यात्मिक पक्ष की ओर भी संकेत किया है। बौद्ध विचारकों ने भी पंच–स्कन्ध की कल्पना के आधार पर कुछ उसी प्रकार की संरचना प्रस्तुत की है, उपनिषदों में अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दमय कोषों की बात है और बौद्धों ने इन्हें ''नाम, रूप, संज्ञा, विज्ञान एवं संस्कार'' बताया है। यहा स्पष्ट रूप से यह दिखाई दे रहा है कि बौद्ध मनोदैहिक स्वरूप पर अधिक बल दे रहे हैं। परन्तु बौद्धों के अनुसार यह मनुष्य के ऐहिक पक्ष का ही वर्णन है, पारमार्थिक पक्ष का नहीं। मीमांसा दर्शन के अनुसार मानव–स्वभाव का सार 'कर्म' ही है अर्थात् कर्ममयं पुरूषः''। अतः भारतीय दर्शन में उपनिषद्, वेदान्त, सांख्य एवं योग के अनुसार मानव को मूलतः केवल मनोदैहिक तत्त्व ही माना गया है। परन्तु मुख्य भारतीय चिंतन–धारा में मानव को मूलतः आत्म–तत्त्व माना गया है, चाहे आत्म–तत्त्व के स्वरूप के विषय में विचारकों में मतभेद रहे हों। इस प्रकार धार्मिक जिज्ञासा का पर्यवसान धार्मिक जीवन–दर्शन एवं जीवन–साधना में होता है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर आदर्श मानव का एक चित्र निकलकर सामने आता है। वास्तव में हम जो कुछ भी करते है वही हमारा स्वभाव बन जाता है और वह हमारे जीवन का एक स्थायी एवं अभिन्न अंग हो जाता है, जिसे हम अपने जीवन से अलग नहीं कर सकते। मानव एक संश्लिष्ट जीव है। उसका शरीर प्रकृति द्वारा निर्मित है और प्रकृति के नियमों के अनुसार ही वह जन्म लेता है और उसी से उसको यह मानव शरीर मिला है। परन्तु यह पैतृक सम्पदा ही सब कुछ नहीं है, उसमें चेतना, तर्क, विवेक, भावना, संकल्प आदि मानसिक शक्तियां भी विद्यमान है। वे सब आत्मा अथवा मानव स्वभाव की अभिव्यक्तियां है, मानव स्वभाव से दुष्ट एवं साधु क्यों होता है ? इस प्रश्न को लेकर मानव–स्वभाव के विषय में दो विपरीत अवधारणाएं प्रचलित हुई हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है :–

मानव के दुष्ट स्वभाव की विवेचना

शोपेन हावर के अनुसार, ''मानव मूलतः बर्बर और भयानक जीव है, जो बाघ एवं चीते से कम जंगली नहीं है। प्रत्येक मानव आन्तरिक रूप से भयानक रूप स्वार्थी होता है। (ऑन ह्यूमन नेचर, लन्दन, 1947 अनुवाद)। हॉब्स और डार्विन आदि भी प्रायः इसी प्रकार का विचार रखते है। कई ग्रन्थों में मनुष्य के इस रूप को अनेक उदाहरणों से दिखाने का प्रयास किया है। जैसे टूशूडी की पुस्तक 'ट्रेवल्स इन पेरू' में सैनिको के प्रति सैनिक अफसरों द्वारा किये गये दुर्व्यव्हार की कहानियां है। मैकलियड की 'ट्रैवल्स इन ईस्टर्न अफ्रिका' में मोजबीक स्थान पर दासों के प्रति नृशंस व्यवहार की कहानियाँ हैं। ब्रिटेन के प्रसिद्ध पत्र ''टाइम्स'' के 20,22,23, सितम्बर एवं 12 दिसम्बर 1948 के प्रकाशनों में सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं, जिनमें पति ने पत्नी को अथवा पत्नी ने पति को केवल इसलिए जहर दिया कि जीवन बीमा के रूपये मिल सकें। यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'रैथोरिक' (1/2,2/2) में बताया है कि हमारे अन्तर में जब असीम स्वार्थ के साथ क्रोध का योग होता है तो इसमें हमें असीम आनन्द मिलता है। गोविन्यू ने अपनी पुस्तक 'लैस रेसेस ह्यूमन्स' में एक विचित्र सत्य के बारे में बताया है कि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो दूसरों को बिना किसी प्रयोजन के कष्ट पहुंचाता हैं। चार्ल्स डार्विन तो जीवन–संग्राम के सिद्धान्त से यह सिद्ध करता है कि मानव की जैविक प्रकृति ही संघर्ष एवं स्वार्थमूलक है। मैक्डूगल ने मानव की मूल–प्रवृत्तियों में युयुत्सा, आत्मप्रदर्शन आदि का उल्लेख किया हैं। फ्रायड ने भी आक्रमण–प्रवृत्ति एवं मुमूर्षा प्रवृत्ति को माना है। हाब्स ने मानव–समाज एवं राज्य के सम्बन्ध में सामाजिक–समझौते के सिद्धान्त के निरूपण के क्रम में स्पस्ट रूप से मानव को स्वार्थी, नीच, हिंसक आदि माना है और इसलिए हाब्स ने शक्ति–सम्पन्न निरंकुश राज्य की सत्ता का समर्थन किया है। आज भी युद्ध में नृशंसता अथवा अमानवीयता देखने को मिलती है। युद्ध की बात तो अलग है, परन्तु आजकल शासन एवं राजनीतिक दलों के द्वारा विरोधियों को परास्त करने के लिए तरह–तरह के अमानवीय हथकण्डे अपनाये जाते है। जिनको देखकर एवं सुनकर कौन कहेगा कि मानव अच्छा है। भारत में नक्सली स्त्रीयों पर किये गये अमानवीय अत्याचार हमें सुनने को मिलते है कि जलते हुए सिगरेट उनके बदन से सटाये गये और लोहे की छड़े उनके गुप्तांगो में घुमायी गई, जब तक कि वे बेहोश न हो गयी। (दिनमान साप्ताहिक, सितम्बर, 1974 का अंक) बिजली का 'शॉक' दिया जाना तो मामूली बात है। साम्प्रदायिक एवं जातिगत दंगो के समय मानव की पाशविकता कितनी उभर कर सामने आती है, इसको हम अच्छी तरह से जानते है ही। मानव आज वास्तव में इतना गिर चुका है कि कभी वह भाषावाद, क्षेत्रवाद, राष्ट्रवाद, वर्णवाद, जातिवाद आदि के रूप में प्रकट होकर अपने सम्पूर्ण शुभ मूल्यों को नष्ट कर देता है। आज के मानव को देखकर यह कहना पड़ता है कि ''मनुष्य ने मनुष्य को क्या बना डाला है।'' आज भी अर्थशास्त्र में मानव की

P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-5* ISSUE-10* June- 2018
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

प्रायः स्वार्थमूलक कल्पना के अधार पर ही उत्पादन की वृद्धि को स्वीकार एवं महत्त्व दिया जाता है, जिससे लगता है कि मानव अपने को कितना ही लोकतान्त्रिक कहे परन्तु उसकी सोच अन्ततः पूंजीवाद एवं सामन्तवाद से आगे नहीं बढ़ पाती है। इसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में भी हमें शक्ति एवं स्वार्थ का ही प्रदर्शन दिखाई देता है।

मानव के साधु स्वभाव की विवेचना

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हम उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह मान लें कि मानव स्वभाव से बुरा है तो वह बुरापन हमारे जीवन का स्थायी एवं अभिन्न अंग बन जायेंगा, जिसे हम अपने से अलग नहीं कर सकते और परिणामस्वरूप सभी मनुष्यों को व्याघ्र, सिंह, भेड़िया आदि हिंसक पशुओं की तरह नृशंस मानना पड़ेगा। परन्तु मानव सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि दास–प्रथा, मानव–बली, बाल–हत्या आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों में उत्तरोत्तर कमी होती जा रही है। पुरातत्त्व–विज्ञान में भी प्राचीन अवशेषों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय भी सामाजिक जीवन था और उस समय आत्मरक्षा आदि के शस्त्र नहीं थें। मानव शरीर की रचना शाकाहारी प्राणियों जैसी ही है, जिससे जीवन निर्वाह के क्रम में दुष्टता एवं हिंसा की संभावना अत्यन्त क्षीण हो जाती है। युनेस्को के तत्त्वावधान में मानव–स्वभाव की खोजों के आधार पर प्रो0 मांटेग्यू ने यह बताया कि मानव आक्रमण या अपहरण करने आदि के दुर्भाव लेकर जन्म नहीं लेता है। जिस दुर्भाव को आज हम मानव–स्वभाव में आरोपित करते है, वह वास्तविक अर्थ में उसका जन्मजात स्वभाव नहीं, बल्कि वातावरण से अर्जित स्वभाव है। यदि हम मानव स्वभाव की आत्मरक्षात्मक मूल प्रवृत्ति के क्रम में कलह, ईर्ष्या, संग्रह आदि वृत्तियों को ही मूल मान लेंगे तो दाम्पत्य–मिलन, शिशु–रक्षण, आत्मसंयम आदि वृत्तियों की हमें पूर्णतः उपेक्षा करनी पडेंगी।

हेरेक्लाईट्स, हेगेल, चार्ल्स डार्विन, कार्ल मार्क्स आदि ने संघर्ष को ही विकास का प्रेरक माना है परन्तु जिस मार्क्स ने वर्ग–संघर्ष का एक समग्र जीवन–दर्शन रखते हुए द्वन्द्व को विचार–विकास का ही नहीं अपितु प्राथमिक विकास का भी सूत्र माना, उसका भी संभवतः मानव के अन्तर्निहित संभाव्य सद्‌गुणों में अटूट विश्वास था। मार्क्स ने तो शायद ईश्वर के अस्तित्व को इसीलिए अस्वीकार किया कि उसे अटूट विश्वास था कि यदि परिस्थितियाँ अनुकूल बना दी जाय तो इसी पृथ्वी पर स्वर्ग का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। यदि मार्क्स की मानव की अंतर्निहित साधुता में आस्था नहीं होती तो उसकी विचार–धारा में मानव समाज के परिवर्तन हेतु क्रान्तिकारी प्रयासों में ऐसा अदम्य आशावाद नहीं दीखता। कार्ल मार्क्स ने कहा था कि दुनियां के मजदूरों एक हो, तुम्हें और कुछ नहीं अपनी जंजीरें ही खोनी है। यदि मानव स्वभाव से दुष्ट है तो फिर कोई भी वैचारिक क्रान्ति संभव नहीं हैं। अतः अब तक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि हमने मानव स्वभाव का सही अध्ययन किया ही नहीं है क्योंकि स्वभाव तो वह होता है जो नित्य और निरपवाद होता है, जिसका निराकरण नहीं हो सकता। इसलिए यदि हम मार्क्स के अनुसार वर्ग–संघर्ष के आधार पर मनुष्य–स्वभाव में संघर्ष को एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया मान भी ले, तो प्रश्न उठता है कि मार्क्स स्वयं इस संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहते थे ? आज समाज के अन्दर चोरी, बटमारी, लड़ाई, दंगे, हत्याएं आदि होती है, तो हमारा प्रयास उनका निराकरण करने का होता है। यदि यही हमारा स्वभाव होता तो हम उनके निराकरण का क्यों प्रयत्न करते हैं ? हम अपने सामान्य दैनिक अनुभव में भी देखते हैं कि हमें क्रूर कर्मों से स्वाभाविक रूप से कष्ट होता है। इन सब बातों से यह प्रतीत होता है कि हमारी सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था का मूलाधार मानव को स्वभाव से अच्छा मान लेने पर ही टिका हुआ है। राजनीतिशास्त्र भी मानव स्वभाव साधु ही मानकर अपने आदर्श निर्धारित करता है। स्वस्थ जनतंत्र सामान्य मनुष्य के विवेक एवं सद्विचार पर ही आश्रित होता है। विधिशास्त्र एवं दण्डविधान में भी सामान्य रूप से अपराधियों को मूलतः दोषी मान लेने के स्थान पर निर्दोष माना जाता है। यही कारण है कि विधिशास्त्र में सन्देह लाभ की व्यवस्था की गयी है। आचारशास्त्र की आधारशीला भी आत्म–स्वतंत्रता के साथ–साथ व्यक्ति के विवेक पर ही आधारित है और नैतिकता का निर्धारण करने वाली हमारी प्रवृत्तियां हमारी विवेक बुद्धि पर ही आधारित है। सभी धर्मशास्त्रों की धारणा साधु स्वभाव पर ही टिकी है। जीवन दर्शन की दृष्टि से मानव स्वभाव को दुष्ट मान लेना मानव का अपमान है, जिससे मानव के जीवन में निराशा की उत्पत्ति होती है। यदि हम मानव स्वभाव की दुष्टता को स्वीकार भी कर ले, तो यह जीवन–दर्शन कभी नहीं बन सकता। अतः दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो सत्कार्यवाद के आलोक में हम कह सकते है कि यदि मानव स्वभाव में अच्छाई नहीं है तो फिर अच्छाईयों का स्वप्न देखना ही व्यर्थ है। श्रीमदभगवद्‌गीता के दूसरे अध्याय के सोलहवें श्लोक में कहा गया है कि, ''नासतो विद्‌यते भावो नाभावो विद्‌यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोरतत्त्वदर्शिभिः।। अर्थात् असत् का अस्तित्व नहीं होता इसलिए मानव में सत्प्रवृत्तियों की आदर्शोन्मुखता की, विद्यमानता देखते हुए मानव–स्वभाव में साधुता का तत्त्व स्वीकार करना ही होगा।

निष्कर्ष

उपरोक्त दोनों प्रकार के विवेचन अपने आप में सबल होते हुए भी एक पक्षीय है, क्योंकि मानव के स्वभाव में दोनों प्रकार के स्वभाव हमें देखने को मिलते है। अतः मानव स्वभाव को न तो साधु सिद्ध किया जा सकता है और न ही दुष्ट। प्राचीन मनोविज्ञान के अनुसार मानव में मूल दुष्ट प्रवृत्तियां है तो फिर करूणा, दाम्पत्य आदि जैसी सद्प्रवृत्तियां भी है। मानव ने मानव के साथ जो नृशंस अत्याचार किये हैं, वे हिंसक पशु भी दूसरे के साथ नहीं कर सकता और जहां तक मानव के संस्कार–परिष्कार की बात है, तो यदि मानव के स्वभाव में सद्प्रवृत्तियां अथवा अच्छाइयां ही विकसित होती रहती तो अभी तक मानव परमेश्वर बन गया होता। अतः दोनों प्रवृत्तियां मानव स्वभाव के अनिवार्य अंग है। हमें आवश्यकता है दुष्ट प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने की और सद्प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने की।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ0 पिताम्बरदास, सामाजिक पुनर्निर्माण में डॉ0 भगवानदास के धर्म–दर्शन का योगदान, विश्वज्ञान अध्ययन संस्थान एवं अंकित प्रकाशन, मडाँव, रोहनिया, वाराणसी, वर्ष–2014
2. प्रो0 अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, वर्ष–2006
3. जगदीशसहाय श्रीवास्तव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष–2002
4. डॉ0 शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का सर्वेक्षण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, वर्ष–2001
5. डॉ0 रामनाथ शर्मा, समाज दर्शन, केदारनाथ रामनाथ एण्ड क0, मेरठ, वर्ष–1998
6. डॉ0 बी0 एन0 सिन्हा, समाज दर्शन–सामाजिक व राजनीतिक दर्शन, सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर, वाराणसी।
7. राहुल सांकृत्यायन, मानव–समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष–2012
8. जे0 एस0 मेकेन्जी, समाज–दर्शन की रूपरेखा, रूपान्तरकार, डॉ0 अजीत कुमार सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, वर्ष–1962
9. संगम लाल पाण्डेय, समाज दर्शन की एक प्रणाली, इलाहाबाद।
10. डॉ0 हृदय नारायण मिश्र, समाज दर्शन–सैद्धांतिक एवं समस्यात्मक विवेचन, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष–2009
11. डॉ0 रामजी सिंह, समाजदर्शन के मूल तत्त्व, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983
12. डी0 आर0 जाटव, भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, वर्ष–2002
13. हेंड्रिक विलोम फ़ान लून. हिन्दी अनुवाद. अरूण कुमार, प्रकाशन संस्थान, अंसार रोड़, नई दिल्ली, वर्ष–2014